जैनधर्म में ईश्वरविषयक मान्यता

□ विद्यावारिधि डॉ. महेन्द्रसागर प्रचंडिया
साहित्यालंकार, एम. ए., पीएच. डी., डी. लिट्, निदेशक : जैन शोध अकादमी

श्रमण और ब्राह्मण नामक संस्कृतियों का समीकरण प्राचीन भारतीय संस्कृति के रूप को स्वरूप प्रदान करता है। श्रमण संस्कृति में जैन और बौद्ध संस्कृतियाँ समाहित हैं जबकि ब्राह्मण संस्कृति में केवल वैदिक संस्कृति का अभिप्राय विद्यमान है। इस प्रकार वैदिक, बौद्ध और जैन संस्कृतियाँ मिलकर भारतीय संस्कृति को स्थिर करती हैं। वैदिक वाङ्मय को वेद, बौद्ध वाङ्मय को त्रिपिटक तथा जैन वाङ्मय को आगम की संज्ञाएं प्राप्त हैं। वैदिक और जैन संस्कृतियों में ईश्वर समादृत है किन्तु बौद्ध संस्कृति में ईश्वरविषयक मान्यता का सर्वथा निषेध है। यहाँ जैन धर्म में ईश्वरविषयक मान्यता पर संक्षेप में चर्चा करना हमें अभीप्सित है।

परमात्मा अथवा ईश्वर एक ही अर्थ—अभिप्राय के लिए प्रयोग में आने लगा है। जैन धर्म में ईश्वर तो है पर वह एक नहीं है। अनेक हैं ईश्वर। जैन सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक आत्मा अपनी स्वतन्त्र सत्ता को लिए हुए है और वह मुक्त भी हो सकता है। अनन्त आत्माएँ मुक्ति प्राप्त कर चुकी हैं और आज भी मुक्त्यर्थ सन्मार्ग खुला हुआ है और सदा-सर्वदा खुला रहेगा। दरअसल ये मुक्त जीव ही जैन धर्म के ईश्वर हैं। (१) जो मुक्त आत्माएँ मुक्त होने से पूर्व संसार को मुक्ति-मार्ग का बोध कराती हैं, उन्हें तीर्थंकर कहा गया है। (२) तीर्थंकर किसी अंशी के अंश रूप अथवा अवतार रूप नहीं हैं। संसारी जीवों में से ही कोई जीव जब सम्यक् तप और संयम-साधना करते हुए लोक-कल्याण की भावना से तीर्थंकर पद प्राप्त करता है। वह जीव जब माता के गर्भ में आता है तब उसकी माता को विशिष्ट स्वप्न दिखलाई देते हैं। इनके जीवन की पांच प्रमुख घटनाएँ होती हैं, जिन्हें कल्याणक कहा जाता है। गर्भ कल्याणक, जन्म कल्याणक, दीक्षा-तप कल्याणक, केवलज्ञान कल्याणक और मोक्ष कल्याणक, ये हैं पाँच कल्याणक। (३) विचार करने योग्य बात यह है कि तीर्थंकर को अर्हत् भी कहा गया है। हिन्दू पुराणों में अर्हत् किसी व्यक्तिवाची संज्ञा के रूप में ग्रहण किया गया है। फलस्वरूप अर्हत् नामक व्यक्ति द्वारा ही जैन धर्म की स्थापना करने वाला निरूपित किया गया है। यह धारणा सम्यक् और शुद्ध नहीं है। यह अर्हत् किसी व्यक्ति का नाम नहीं है अपितु पदविशेष है। (४) इस पद को प्राप्त कर स्वयं कषायमुक्त होकर संसार के कल्याण-मार्ग को प्रशस्त करते हैं। कषायमुक्त आत्माएँ जिन कहलाती हैं, जिनकी वाणी को जिनवाणी—आगम की संज्ञा प्रदान की गई। जिन-धर्म को जैन धर्म और जैन धर्म के माननेवालों को जैन कहा गया है। जीवनमुक्त तीर्थंकर अथवा अर्हत् में अनन्त चतुष्टय मुखर हो उठते हैं अर्थात् अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त वीर्य तथा अनन्त सुख उनमें जागरित हो उठता है। ऐसी मुक्त आत्माएँ वस्तुतः भगवान् अथवा ईश्वर होती हैं। संसारी आत्मा के पास सत्ता भी है और चेतना भी है। यदि उसके पास कुछ कमी है तो वह है केवल स्थायी सुख एवं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्थायी आनन्द की (५) अक्षय आनन्द जगाने पर प्रत्येक जागरित आत्मा परमात्मा बन जाती है। कतिपय धर्मों के अनुसार ईश्वर एक सर्वोपरि प्रभु-सत्ता है। अनादि काल से वह एक है और सर्वसत्तासम्पन्न है। दूसरा कोई ईश्वर हो नहीं सकता। वह ईश्वर ही जगत् का निर्माता और संहर्त्ता है। किसी का ईश्वर वैकुण्ठ में रहता है, किसी का ब्रह्मलोक में तो किसी का सातवें आसमान पर रहता है, तो किसी का समग्र विश्व में व्याप्त है। विचार करें, ईश्वर-विषयक ऐसी मान्यता मनुष्य को पंगु और पराश्रित नहीं बना देती है? इससे व्यक्ति पूरा का पूरा पराश्रित होता है। फलस्वरूप मनुष्य कर्त्तव्यनिष्ठ बनने की अपेक्षा खुशामदी बन जाता है। जैन दर्शन में मानवीय चेतना का चरम विकास ही ईश्वरत्व है। वह कोई व्यक्तिविशेष नहीं है अपितु है एक आध्यात्मिक भूमिका विशेष। प्रत्येक प्राणी में ईश्वर शक्ति विद्यमान है, प्रश्न है उसे जगाने भर का। उसे जगाने में किसी क्षेत्र, देश, जाति, कुल अथवा पंथ विशेष का बंधन नहीं है। जो प्राणी अपने को राग-द्वेष से विमुक्त कर स्व में स्व को लीन कर लेता है, वही वस्तुतः परमात्मा हो जाता है।

अध्यात्मभाव की इस विकास-प्रक्रिया को आगम में गुणस्थान की संज्ञा प्रदान की है। भगवान् विश्व प्रकृति का द्रष्टा है, स्रष्टा नहीं। विश्व प्रकृति के दो मूल तत्त्व हैं—जड़ और चेतन। दोनों में कर्तृत्वशक्ति विद्यमान है। इससे ही स्वभाव और विभाव सक्रिय होते हैं। विचार करें—पर के निमित्त से होनेवाली कर्त्तृत्वशक्ति वस्तुतः कहलाती है विभाव। पर के निमित्त से रहित स्वयंसिद्ध सहज कर्त्तृत्व शक्ति का अपर नाम स्वभाव है। चेतना तत्त्व पूर्णतः परिशुद्ध होकर परमात्मचेतना का स्वरूप प्राप्त करता है तभी उसमें से पर-आश्रित भावना भंग हो जाती है और वह स्व-अपने ही स्व में लीन हो जाता है। यही आत्मा की शुद्धि की अवस्था है। जब आत्मा शुद्ध हो जाती है तभी वह सिद्ध हो जाती है अर्थात् आत्मा से परमात्मा।

(६) जैन धर्म में आत्मा एक नहीं अनन्त मानी गई है। उसका लक्षण है चैतन्य। (७) चैतन्य स्वभाव ही आत्मा-द्रव्य को अन्य अनेक द्रव्यों से भिन्न करता है। यह चैतन्य धर्म वस्तुतः उसका स्वभाव धर्म है। (८) प्रत्येक आत्मा ज्ञाता के साथ-साथ कर्त्ता और भोक्ता भी होती है। (९) सांसारिक अवस्था में आत्मा अपने कर्म की कर्त्ता होती है और अपने ही कर्म की भोक्ता भी (१०) अपने कर्मकुल को काट कर जब मुक्ति प्राप्त कर लेती है तब उसमें अनन्त चतुष्टय जागरित हो जाते हैं।

जीव जब प्राण पर्याय ग्रहण कर लेता है, तब वह प्राणी कहलाता है। प्रत्येक प्राणी स्वदेहपरिमाणी होता है। (११) अर्थात् वह स्वदेह में ही व्याप्त रहता है, देह के बाहर नहीं। (१२) जैन धर्मानुसार जिस वस्तु के गुण जहाँ विद्यमान रहते हैं, वह वस्तु वहीं पर होती है। ज्ञान आदि गुण आत्मा के हैं—जहाँ ये गुण हैं वहीं आत्मा माननी चाहिए। आकाश द्रव्य है उसके गुण सर्वव्यापी हैं अतः आकाश सर्वत्र है। (१३) संसारी जीव अनादि काल से कर्मबद्ध है, फलस्वरूप वह सांसारिक चंक्रमण—जन्म-मरण के चक्कर में पड़ा रहता है किन्तु उनमें भी सिद्ध समान शक्ति तिरोभूत विद्यमान है। (१४) यदि यह कर्मरहित हो जाए अर्थात् वह अपने शुभ संकल्प से तप-संयमपूर्वक साधना करते हुए कर्मक्षय कर डाले तो उसका सिद्ध स्वरूप मुखर हो उठेगा। क्योंकि जैन धर्म में जीव को प्रभु कहा गया है। (१५) इस प्रकार जीव अपने उत्थान-पतन का स्वयं उत्तरदायी है। वही अपना शत्रु है, वही अपना मित्र भी है।

धम्मो दीवो
संसार समुद्र में
धर्म ही दीप है

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(१६) बंधन और मुक्ति उसी के पुरुषार्थ और संकल्प पर निर्भर करते हैं। इसके लिए उसे बाहरी शक्तियों का कोई योग-सहयोग प्राप्त नहीं हुआ करता।

आध्यात्मिक दृष्टि से आत्मा को तीन कोटियों में बांटा गया है—बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा (१७) बहिरात्मा अपने शरीर को ही अपनी आत्मा समझता है और शरीर-विनाश में स्वयं का विनाश मान लेता है। (१८) ऐसा जीव इन्द्रियों के व्यापार में सक्रिय रहता है, आसक्त रहता है। जब उसे अनुकूलता होती है तब प्रसन्नता अनुभूत करता है और जब उसे प्रतिकूलता होती है तब अनुभव करता है दुःखातिरेक। (१९) उसे मृत्यु अर्थात् मरण का अतिशय भय रहता है। (२०) उसके शरीर में प्रच्छन्न ज्ञान के बोध न होने से वह प्राणी अनन्त काल तक संसार के चंक्रमण में गतिशील रहता है।

(२१) अन्तरात्मा अपनी आत्मा और शरीर में भिन्नता अनुभव करता है। (२२) इसी लिए उसमें किसी प्रकार का भय नहीं होता है अर्थात् लोकभय, परलोक भय, मृत्युभय, आदि से वह सर्वथा मुक्त रहता है। उसमें किसी प्रकार का मद नहीं रहता अर्थात् कुल, जाति, रूप, ज्ञान, धन, बल, तप तथा प्रभुता आदि के मदों से रहित होता है। (२३) अन्तरात्मा अवस्था में जीव को सांसारिक पदार्थों और उनके भोग में किसी प्रकार की आसक्ति नहीं रहती। साथ ही ऐसे अनासक्त प्राणी को जन्म-मरण के दुःखों से यथाशीघ्र निवृत्ति मिल जाती है।

(२४) बहिरात्मा और अन्तरात्मा के पश्चात् जीव की विशिष्ट अवस्था है—परमात्मा। परमात्मा वह जिसने अपनी आत्मा का पूर्ण उत्थान कर लिया हो और जो काम, क्रोध आदि दोषों से सर्वथा मुक्त हो चुका हो। (२५) उसमें अनन्त चतुष्टय जाग जाते हैं और वह आवागमन के चक्र से परिमुक्त हो जाता है। पहला, दूसरा और तीसरा गुणस्थान बहिरात्मा अवस्था का चित्रण है। चौथे से बारहवें गुणस्थान अन्तरात्मा अवस्था का दिग्दर्शन हैं और तेरहवां चौदहवां गुणस्थान परमात्मा-अवस्था का है।

(२६) आत्मा का स्वभाव है ज्ञानमय। वह स्वभाव कर्म कटें तो प्रकट हो। ध्यान से कर्मविपाक बंधते और कटते भी हैं। अशुभ ध्यान संसार का कारण है और शुभ ध्यान मोह का कारण। पहिले तीन गुणस्थानों में आर्त्त और रौद्र ये दो ध्यान ही पाए जाते हैं। चौथे और पाँचवें गुणस्थान में आर्त्त और रौद्र ध्यान के अतिरिक्त सम्यक्त्व की प्रभावना से धर्म-ध्यान भी होता है। छठे गुणस्थान में आर्त्त और धर्मध्यान की संभावना रह जाती हैं। यहाँ रौद्रध्यान छूट जाता है। सातवें गुणस्थान में केवल धर्मध्यान होता है। यहाँ तक आते-आते रौद्र और आर्त्तध्यान छूट जाता है। आठ से बारहवें गुणस्थानों तक अर्थात् इन पाँच गुणस्थानों में केवल धर्मध्यान के साथ एक ध्यान और जागता है वह है शुक्ल। यह शुक्लध्यान मूलाधार है मोक्ष की प्राप्ति का। इसीलिए अगले गुणस्थानों में केवल शुक्लध्यान होता है।

(२७) जो स्थान योगवाशिष्ठ २८ में तथा पातंजल योगसूत्र में (२७) अज्ञानी जीव का है वही लक्षण जैन धर्म में मिथ्यादृष्टि अथवा बहिरात्मा के नाम से उल्लिखित है। (३०) जीव को परमात्म-अवस्था प्राप्त्यर्थ अपनी मिथ्यादृष्टि का परिष्कार करना आवश्यक है। वह मिथ्यादृष्टि से सम्यक् दृष्टि हो जाता है तभी उसमें विकसित होकर परमात्म-लक्षण मुखर होते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार जैन धर्म में अर्हत् और सिद्ध पद हैं। उन तक जो जीव पहुँचता है, वही वस्तुतः ईश्वर माना गया है। प्रत्येक जीव में ईश्वर होने की शक्ति विद्यमान है। अनादि काल से जीव अपनी ईश्वरत्व शक्ति को कर्मबंध से प्रच्छन्न किए हुए है। जब और ज्यों ही कर्मबंध क्षीण होने लगते हैं तभी उस जीव में ईश्वर होने की शक्तियाँ उजागर हो जाती हैं और अंततः वह जीव ईश्वर बन जाता है। (३१) जैनधर्मानुसार यह ईश्वर संसार से कोई संबंध नहीं रखते हैं। सृष्टि के सृजन अथवा संहार में भी इनकी कोई भूमिका नहीं है। किसी के द्वारा सम्मान और अपमान पर विचार नहीं करते। वे स्तुतिवाद और निन्दावाद से सर्वथा मुक्त रहने का भाव रखते हैं। उन्हें इससे न तो हर्ष ही होता है और न ही विषाद।

जैनधर्मानुसार सृष्टि स्वयंसिद्ध है। जीव अपने-अपने कर्मानुसार स्वयं ही सुख-दुःख पाते हैं। ऐसी दशा में मुक्तात्माओं और अर्हत् सिद्धों को इन सब झंझटों में पड़ने की कोई आवश्यकता नहीं है। क्योंकि जिनके सभी राग मिट गए हैं, जो वीतराग हैं, भला उन्हें तुम्हारी भलाई-बुराई से क्या प्रयोजन ? सार संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि जैन धर्म में अर्हतों और मुक्त आत्माओं का उस ईश्वरत्व से कोई सम्बन्ध नहीं है जिसे अन्य लोग संसार के कर्त्ता और हर्त्ता ईश्वर में कल्पना किया करते हैं। जैन दर्शन में इस प्रकार की कोई कल्पना ही नहीं की गई अपितु इस मान्यता के विरुद्ध सप्रमाण आलोचना अवश्य की गई है। यदि ईश्वर का यही रूप है तो जैन दर्शन को भी अनीश्वरवादी कहा जा सकता है।

(३२) इस प्रकार उपर्युक्त संक्षिप्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि बौद्ध और अन्य अनीश्वरवादियों की भाँति जैन धर्म नहीं है। यहाँ ईश्वर तो है और उस संबंधी अपना दृष्टिकोण है, अपनी मान्यता है। विशेषता यह है कि यहाँ प्रत्येक प्राणी को प्रभु बनने की सुविधा प्राप्त है। अतः यहाँ विकास और प्रकाश पाने की पूर्णतः स्वतंत्रता है।

—'मंगल कलश',
३९४ सर्वोदय नगर, आगरा रोड,
अलीगढ़ - २०२००१

□□

धम्मो दीवो
संसार समुद्र में
धर्म ही दीप है

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org